# कई तरह के संवाद

**रुचि श्री**

आलोचना विधा में लिखी गयी यह किताब कई दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है। इससे न केवल साहित्य बल्कि मनोविज्ञान, राजनीति और इतिहास जैसे विषयों को समझने में मदद मिलती है। यह समीक्षा 'साहित्य की राजनीति' और 'राजनीति के साहित्य' को जानने की चेष्टा करती है। किताब के लेखक आशुतोष भारद्वाज अंग्रेज़ी और हिंदी में समान पकड़ रखते हैं। पत्रकार के रूप में वे नक्सलवाद (छत्तीसगढ़), चुनावी मुद्दों और साहित्य आदि पर *द इंडियन एक्सप्रेस* और *द फ़ाइनेंशियल एक्सप्रेस* जैसे अख़बारों में नियमित रूप से लिखते रहे हैं। उल्लेखनीय है कि यह किताब न तो उपन्यास की श्रेणी में आती है, और न ही इसे कहानी-संकलन कहा जा सकता है। सुरुचिपूर्ण शीर्षकों से सम्पन्न इसके चार हिस्से हैं जिनमें चार अलग-अलग तरह के लेखकों पर विमर्श किया गया है। पहले खण्ड 'स्वर' में आठ निबंध हैं। किताब का यही हिस्सा सबसे बड़ा है जिसमें पहले मुक्तिबोध, अशोक वाजपेयी और श्रीकांत वर्मा जैसे मूर्धन्य कवियों एवं उनकी रचनाओं पर विमर्श है। अंत में भारतीय संदर्भ में स्त्री और उपन्यास पर बहुआयामी टिप्पणियों की सामग्री है। दूसरे खण्ड 'स्मृति' में निर्मल वर्मा और रामचंद्र गाँधी की स्मृति है। और तीसरे भाग 'संवाद' में कृष्ण बलदेव वैद और कृष्णा सोबती के साथ साहित्य, लेखन और समकालीन मुद्दों पर की गयी औपचारिक बातचीत संगृहीत है। अंतिम हिस्सा 'समय', डायरी लेखन की विधा, उसके महत्त्व और लेखक के अपनी डायरी लेखन के कुछ पहलुओं को उजागर करता है।

यह रचना कई पुराने विमर्शों को नये तरह से सामने लाने की कोशिश करती है। इनमें गाँधी की हत्या, *रामायण* के कुछ विवादास्पद दोहों और स्त्रियों की स्वतंत्रता के सवाल इत्यादि का उल्लेख किया जा सकता है। विश्व-साहित्य के समावेश से इसमें अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों के साथ
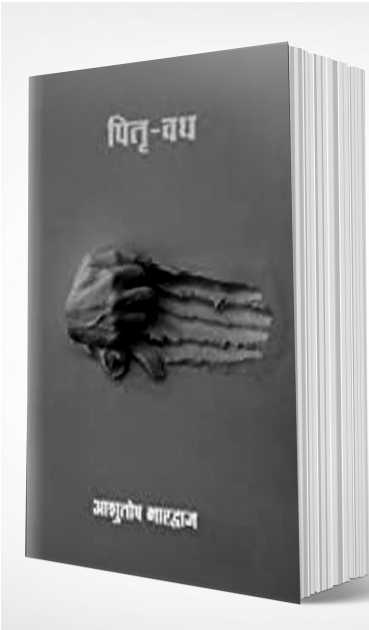
*पितृ-वध* ( 2019 )
आशुतोष भारद्वाज
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली
मूल्य : 299 रुपये, पृष्ठ : 250

संवाद का एक प्रशंसनीय प्रयास दिखाई देता है। हालाँकि कई बार आलोचना का स्वर ख़ासकर अज्ञेय के प्रति लेखक का गहरा असंतोष पाठक को थोड़ा विचलित कर सकता है। इसके बारे में आगे चर्चा की जाएगी। *पितृ-वध* लेख में लेखक कुछ हद तक अपने मंसूबों को पाठक के सामने रखने का प्रयास ज़रूर करता है, पर पूरी किताब की भूमिका के रूप में यह कुछ हद तक ही न्याय कर पाता है। यह अलग बात है कि लेखक जिस साफ़गोई से मातृ-ऋण न चुका पाने और अपनी वर्तमान सीमाओं को स्वीकार करते हैं, उसकी वाक़ई तारीफ़ की जानी चाहिए।

हत्या और वध के बीच के फ़र्क़ को भारद्वाज ने गाँधी और भीष्म पितामह के उदाहरण से समझाने का प्रयास किया है। वे लिखते हैं, 'हत्या' व्यक्तिगत राग-द्वेष से संचालित होती है, जबकि वध में एक वृहद् विधान निहित है (पृ. 8)। आशिस नंदी ने भी अपने लेख में कुछ ऐसा ही कहा है। लेखक उद्धृत करते हैं, 'गाँधी की हत्या किसी एक व्यक्ति ने नहीं की थी, इस कृत्य में कई लोग मूक सहभागी थे, गाँधी ख़ुद उनमें से एक थे।' (पृ. 11) पिता की मृत्यु निर्मल वर्मा के लेखन में काफ़ी महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। लेखक पर निर्मल वर्मा का प्रभाव और मृत्यु जैसे विषय से उनका गहरा लगाव पाठक सहज ही महसूस कर सकते हैं। काफ़्का, हेमिंग्वे, ओरहन पामुक आदि के हवाले से इस लेख में कई प्रासंगिक बातें कही गयी हैं जो पितृ-ऋण, पितृ-वध, पिता की मृत्यु-कामना जैसे विषयों की बारीकियों को उजागर करती हैं।

**कवि और कविताओं के ताने-बाने**

'मगध की मृत्यु-कामना' नाम से लिखा गया पहला लेख श्रीकांत वर्मा की कविता पर एक विमर्शी पाठ है। इसमें लेखक मृत्यु और मगध को केंद्र में रख कर जीवन-दर्शन को समझने की कोशिश में दो बुनियादी सवाल सामने रखता है। पहला यह कि कविताओं में ज्ञान किस तरह सम्प्रेषित होता है और इस ज्ञान का स्वरूप क्या है? दूसरा, जिस तत्त्व के ज्ञान की ओर यह कविता ले जाती है उसका स्वरूप क्या है? (पृ. 23) इस कविता में मुक्ति की कामना मृत्यु और प्रेम के द्वैत से निकलने की एक कोशिश जान पड़ती है। इस लेख में लेखक मिथक की भूमिका को रेखांकित करते हुए कहते हैं कि मिथक सामूहिक स्मृति के गर्भ में सोया एक बीज है जो अपने पुनर्जन्म के लिए प्रतीक्षारत है। (पृ. 27) सामूहिक स्मृति किसी भी समाज के लिए और ख़ासकर भारत जैसे संस्कृति-बहुल देश के लिए राजनीति, कला और इतिहास आदि को समझने में निश्चय ही मददगार साबित हो सकती है।

दूसरा लेख 'अनुपस्थिति के साये' मुक्तिबोध की कविता का 'मनोविज्ञान टटोलने' का प्रयास है। (पृ. 40) इसमें लेखक ने मुक्तिबोध को उनकी रचनाओं में स्त्री और प्रेम की अनुपस्थिति के लिए कठघरे में खड़ा किया है। मार्गरेट ड्यूरा के शब्दों में, पुरुष की सृष्टि में स्त्री कहीं अन्यत्र होती है; एक ऐसी जगह जहाँ वह पुरुष अपनी इच्छा से ही आता-जाता है। (पृ. 31) वर्जीनिया वुल्फ़, ड्यूरा और कृष्णा सोबती को कद्दावर लेखिका बताते हुए भारद्वाज लिखते हैं कि ये तीनों पुरुष और

स्त्री-जगत की भिन्नता को स्वीकारती हैं, लेकिन वे इस बात पर भी ज़ोर देती हैं कि महान कलाकार संस्कृति द्वारा आरोपित इस लिंग भेद से परे निकल जाते हैं। (पृ. 32) मुक्तिबोध की एक दुर्लभ प्रेम कविता के ज़रिये पुरुष मन पर स्त्री का प्रभाव बताते हुए इस लेख में *रामायण* का एक रोचक प्रसंग आता है जिसमें सीता के प्रति लक्ष्मण के मनोभावों को शक के दायरे में रखते हुए तुलसीदास ने 'मरम बचन' में सीमित किया है।

तीसरा लेख अशोक वाजपेयी की कविताओं के बीच एक लम्बे अंतराल और उस दौरान उनकी कविता में आये बदलाव पर नज़र डालने का प्रयास करता है। 1970 में लिखी 'अब वक़्त आ गया है' और 1971 में 'चीख़' वाजपेयी के संचयन *तिनका-तिनका* के 'एक पतंग अनंत में' खण्ड की अंतिम दो कविताएँ हैं। (पृ. 44) इन कविताओं में 'सूअरबाड़े', 'संविधान' और 'गधापचीसी' जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है जो एक तरह से उनके आक्रोश को व्यक्त करता है। भारद्वाज इन दो कविताओं को वाजपेयी के कृतित्व में अपवाद मानते हैं, लेकिन उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया है कि फिर इन्हीं दो कविताओं का चुनाव क्यों किया गया। तीन दशक बाद वे एक तरफ़ 'उन्हीं में से एक', 'मैं अपने गुनाह' जैसी कविताएँ लिखते हैं, तो दूसरी तरफ 'बढ़ई' और 'कुंजड़ा'। बाद की दो कविताएँ उनके संकलन *शताब्दी के अंत के कगार पर* से हैं जिसमें सात संज्ञाओं— कवि, कबाड़ी, कुंजड़ा, कुम्हार, लोहार, बढई, मछुआरा जैसी लम्बी कविताएँ हैं। एक तरफ़ कवि के जीवन का यह साठवाँ साल है तो दूसरी तरफ़ सामाजिक परिप्रेक्ष्य में भी बड़ा बदलाव आया है। ऐसे में 'शब्द अगर अपनी प्रकृति में इल्हाम होना, ख़ुद अपने को कविता के माध्यम से कहना चाहता है, रचना एक इबादत और कवि एक साधक, तो यह रचना के कमज़ोर लम्हे हैं', लेखक आगे लिखते हैं, 'कुम्हार' और 'कुंजड़ा' कविताएँ कवि के वाङ्मय और उसके काव्य-संविधान का अंग नहीं नजर आतीं।' (पृ. 50)

### अज्ञेय और उनके शेखर के बहाने

पहले खण्ड का चौथा लेख 'अज्ञेय और मैं' को पढ़ना एक मज़ेदार अनुभव है। शुरू में अज्ञेय के मशहूर उपन्यास *शेखर : एक जीवनी* के साथ लेखक की नाराज़गी थोड़ी अरुचिकर लगती है। लेकिन जब हम लेखक की इस नाराज़गी को ज़्यादा गम्भीरता से समझने का प्रयास करते हैं तो बात थोड़ी समझ आने लगती है। किताब का शीर्षक *पितृ-वध* एक अर्थ में लेखक के निर्मल वर्मा और अज्ञेय के साथ वैचारिक संबंधों को उजागर करता है। उनका मानना है कि निर्मल वर्मा उनके गुरु हैं और अज्ञेय वर्मा के सर्जनात्मक गुरु, तो ऐसे में अज्ञेय उनके दादा समान हैं। यह पढ़ कर जेम्स जॉयस की किताब *अ पोर्ट्रेट ऑफ़ द आर्टिस्ट एज़ अ यंग मैन* की भूमिका में वर्णित 'कैथॅलिक डॉक्ट्रिन ऑफ़ द ट्रिनिटी' का ध्यान आता है जो यह बताता है कि व्यक्ति अपने पूर्वज और ईश्वर के प्रति अपनी प्रतिबद्धताओं के बीच में किस तरह का द्वंद्व अनुभव करता है।

आइए, देखें कि लेखक का अज्ञेय के प्रति क्या रुख़ है। आशुतोष कहते हैं कि वे ख़ुद को इस किताब से जोड़ नहीं पाते और इस संबंध में मुख्य रूप से तीन कारणों पर विचार करते हैं। पहला, अज्ञेय को शेखर पर और शेखर को अपने आप पर किसी तरह का शक नहीं है। लेखक के लिए 14-15 साल के बालक के रूप में शेखर का माँ के डाँटने पर अपनी डायरी में 'आई हेट हर' लिखना उनकी कल्पना से परे है। (पृ. 54-55) यहाँ इस प्रसंग के विस्तार में जाना सम्भव नहीं है। दूसरा, उपन्यासकार के रूप में अज्ञेय अपने नायक को क्रमशः महानायक बनाते चले जाते हैं। वे लिखते हैं, 'शेखर को एक बड़ी ख़तरनाक आदत पड़ गयी— वह अकेला बैठ कर सोचने लगा।' लेखक कहते हैं कि सोचना कोई ख़तरनाक चीज़ नहीं बल्कि एक सहज मानवीय कर्म है और इसमें कुछ भी आश्चर्यजनक या बहुत महान नहीं माना चाहिए। तीसरा, शेखर में कोई द्वंद्व नहीं है और वह अपनी हर बात और काम को लेकर बहुत आश्वस्त है।

शेखर सिद्धावस्था प्राप्त कर चुका मालूम होता है, जबकि लेखक का आदर्श ऐसा नायक है जो अपनी तलाश में हो। ऐसा ही कुछ निर्मल वर्मा के संस्मरण में वे अपने बारे में बात करते जान पड़ते हैं। इस पर आगे के खण्ड में चर्चा होगी। इस लेख में वे दो ऐसे उपन्यासों का ज़िक्र भी करते हैं, एक दोस्तोएव्स्की का *नोट्स फ्रॉम द अंडरग्राउंड* और दूसरा कृष्ण बलदेव वैद का *दूसरा ना कोई*। उनका कहना है कि नायक के पास यह क्षमता होनी चाहिए कि वह ख़ुद पर हँस सके, पर क्या शेखर के साथ ऐसा सम्भव है? अज्ञेय द्वारा लम्बी भूमिका लिखना और पाठकों को पहले ही अपने वश में करने की कोशिश भी आलोचना योग्य है, चाहे वह शेखर हो या फिर उनकी अन्य रचना जैसे *नदी के द्वीप*। चेतना का विस्तार आत्म और बाह्य जीवन के बीच हुए घर्षण से ही सम्भव है और अज्ञेय के किरदार किसी कर्म में रत नहीं होते। ऐसी क्रियाहीनता लेखक को स्वीकार्य नहीं है।

**भारतीय उपन्यासों में स्त्री : राष्ट्रवाद और उससे आगे का विमर्श**

इस किताब के पहले खण्ड के अंतिम चार अध्याय भारतीय उपन्यास एवं स्त्री-विमर्श पर केंद्रित हैं। इन लेखों में राष्ट्रवाद, नारी स्वतंत्रता, आधुनिकता, युरोप और भारत में उपन्यास लेखन की परम्परा के विकास जैसे विषय अन्योन्याश्रित संदर्भ में उभरते हैं। यहाँ 'उपन्यास के भारत की स्त्री' में दो बिंदुओं का उद्घाटन किया गया है। पहला, उपन्यास सामाजिक बहसों में स्त्री को प्रेम, छद्म और वासना के प्रतीक के रूप में किस तरह सामने लाता है; और दूसरा, उपन्यास पढ़ने की कला समाज की कुछ महिलाओं को अन्य महिलाओं के बरअक्स कैसे एक अलग पहचान से लैस कर देती है। जैसे शरतचंद्र के उपन्यास *अनुपमा का प्रेम* (1900) में उनका यह कहना कि ग्यारह साल के होते-होते अनुपमा ने अपना दिमाग़ ख़राब कर लिया था, (पृ. 69) निश्चय ही अनुपमा को अपनी हमउम्र लड़कियों से अलग कर देता है। यहाँ ग़ौरतलब है कि महज़ कुछ दशक पहले तक भी लड़कियों का ज़्यादा पढ़ना-लिखना परिवार के लोगों के लिए अक्सर परेशानी का सबब बन जाता था। कई जगहों के लिए शायद यह आज भी एक सच्चाई हो सकती है। जहाँ पहले महिलाओं के लिए सत्यनारायण कथा का पाठ एक सामूहिक या धार्मिक गतिविधि थी, पर अब उपन्यास पढ़ना नितांत एकाकी गतिविधि बन गयी। भारद्वाज लिखते हैं कि उपन्यासकार अपनी कल्पना में एक साथ दो स्त्रियों से संवादरत होता है— स्त्री बतौर किरदार और स्त्री बतौर पाठक।

एक अन्य लेख में आधुनिकता, स्त्री और उपन्यास के जटिल संबंधों पर नज़र डालने के क्रम में राष्ट्रवाद एक कड़ी के रूप में उभरता प्रतीत होता है। रवींद्रनाथ ठाकुर राष्ट्र को स्त्री का प्रतीक तो बनाते हैं पर उनकी नायिकाएँ महज़ पुरुषों के आत्मावलोकन में मदद करती हैं। भारद्वाज का मानना है कि रवींद्रनाथ स्त्री को उनका अपना मुखर स्वरूप दे पाने में असमर्थ रहते हैं। पर मुझे लगता है कि रवींद्रनाथ अपने प्रसिद्ध उपन्यास *गोरा* में सुचरिता एवं ललिता जैसी नायिकाओं का संवाद जिस तरह रखते हैं, वह केवल उस समय के लिए ही नहीं आज भी गहरा अर्थ रखता है। स्वतंत्रता की अवधारणा से कौन क्या प्राप्त करना चाहता है— कई बार यह भी संदर्भ पर निर्भर करता है। इस उपन्यास में ब्रह्म समाज और हिंदू राष्ट्रवाद के बीच बहस को रेखांकित करते हुए रवींद्रनाथ पुरुष को उग्र राष्ट्रवाद का प्रतीक मान कर उसे नकार देते हैं, और उसकी जगह समन्वयवादी राष्ट्रवाद के रूप में स्त्री को प्रतिष्ठित करते हैं। (पृ. 82)

एक लेख में आशुतोष अरुंधति राय पर तीखा प्रहार करते हुए कहते हैं कि वे एक ख़ास मक़सद को सामने रख कर अपनी रचना करती हैं। लेकिन, ग़ौर करें कि यहाँ इसका दूसरा पक्ष भी उतना ही सही मालूम होता है कि हर लेखक की अपनी राजनीति होती है। बहरहाल, लेखक ने अपने इन लेखों को मुख्य रूप से रवींद्रनाथ, यू.आर. अनंतमूर्ति, निर्मल वर्मा, कृष्णा सोबती और कृष्ण बलदेव वैद के उपन्यासों के इर्द-गिर्द रचा है। इन लेखों में विश्व-साहित्य की झलक भी देखने को मिलती है।

**निर्मल वर्मा, कृष्णा सोबती और कृष्ण बलदेव वैद : संवाद की सम्भावना**

इस किताब में निर्मल वर्मा के एक संस्मरण के अलावा वैद और सोबती के साथ साक्षात्कार भी शामिल हैं। इन तीनों उपन्यासकारों का लेखक के जीवन एवं उनके लेखन पर गहरा प्रभाव है। इस खण्ड से लेखक के स्व, जीवन और सीखने की प्रक्रिया को समझने में मदद मिलती है। मसलन, निर्मल वर्मा से पहली मुलाक़ात में यह पूछना कि 'एक प्रश्न बार-बार मेरे मन में आता है कि मैं कौन हूँ', कहीं न कहीं उनके स्व की तलाश से जुड़ा हुआ है। इस संदर्भ में अज्ञेय वाले खण्ड का स्मरण करें तो लेखक का आदर्श एक ऐसा नायक है जो अपनी ही खोज में लगा है।

वैद के साथ लम्बा साक्षात्कार न केवल उनके रचना-कर्म बल्कि उनकी सृजन-प्रक्रिया के गूढ़ तत्त्वों को समझने में भी मदद करता है। वैद ने अपने लेखन के तीन तकनीकी औज़ार बताए हैं— मोनोलॉग (एकालाप), अंतश्चेतना का प्रवाह, और प्रथम पुरुष की शैली में आख्यान। (पृ. 144) वैद ने लेखन की शुरुआत हेनरी जेम्स पर अपने शोध से की, लेकिन वे जल्द ही उनकी आलोचना में ज़्यादा दिलचस्पी लेने लगे, और आगे चल कर उन्होंने हार्वर्ड में जेम्स के कथन 'फ़र्स्ट पर्सन इज़ कंडेम्ड टू द फ़्लुडिटी ऑफ़ सेल्फ़ रिविलेशन' को चुनौती दी। (पृ. 140-41) ग़ौरतलब है कि अपनी रचनाओं की जटिलता के ज़िक्र में वे गाहे-बगाहे निर्मल वर्मा और अज्ञेय के लेखन की कमियों को भी दर्ज करते हैं। मसलन, आशुतोष का यह कहना ध्यान खींचता है कि संरचना के स्तर पर अज्ञेय और वैद रोमांटिक रियलिज़म तक ही पहुँच पाते हैं। (पृ. 145) लेखक की यह टिप्पणी भी महत्त्वपूर्ण है कि वैद के लिए अतीत को खोदना उनके लिखने की प्रक्रिया का अहम् हिस्सा है।

वैद की तुलना में सोबती का साक्षात्कार बहुत छोटा है, हालाँकि सोबती का यह अंतिम साक्षात्कार है, और इसका एक हिस्सा अस्पताल में लिया गया है। इस साक्षात्कार में सोबती ने अपने लेखन संबंधी विचारों को साझा करते हुए *हम हशमत* में पुरुष स्वर में लिखने के निर्णय, और भारतीय जनचेतना में अर्धनारीश्वर के महत्त्व जैसे विषयों पर बात की है। कृष्णाजी डेनिश लेखिका इसाक डायनसीन की कहानी के हवाले से बताती हैं, 'मैं कभी एक व्यक्ति बन कर नहीं रहूँगी। मैं तुमसे भी यही कहती हूँ। इसके बाद तुम भी एक से अधिक बन कर रहो, जितने भी लोगों के बारे में सोच सकते हो उतने ही अधिक तुम दिल में हल्का महसूस करोगे।' यहाँ सोबती कला के रहस्य, लेखक होने का सुख, लेखन की जटिलता, स्त्री साहित्य की अवधारणा में उनके अविश्वास जैसे महत्त्वपूर्ण बिंदुओं पर नज़र डालती हैं। (पृ. 181)

> यह किताब धैर्य और मंथर गति से पढ़े जाने की माँग करती है। इसका अंतर-विषयी रुझान युवा पीढ़ी को निस्संदेह आकर्षित करेगा। यह किताब कई तरह के संवाद— प्रथम पुरुष और तृतीय पुरुष के साथ द्विपक्षी संवादों को शामिल करती है। इस दृष्टि से यह लेखन की बारीकियों के प्रदर्शन में भी कारगर है। लेखक ने अपनी यादों, यात्राओं और चुनावी रिपोर्ताज का रचनात्मक उपयोग किया है। लेकिन, इसमें कई जगह आलोचना का स्वर आक्रामक हो जाता है। कई स्थानों पर यह भी लगता है कि कुछ मुद्दों पर थोड़ा और विस्तार से विचार किया जा सकता था।

कृष्णा सोबती, कृष्ण बलदेव वैद और निर्मल वर्मा के बीच लम्बी दोस्ती और इसमें समय के साथ आयी दरार, लेकिन साथ ही एक-दूसरे से सम्पर्क में रहकर तीसरे की ख़बर लेते रहने की

कोशिश उनके उदात्त मानस का परिचय देती है। साहित्य में कई दुश्मनियाँ भी नामी रही हैं, जैसे अज्ञेय और जैनेंद्र के बीच, अल्बर्ट कमू और सार्त्र के बीच, और हाल के दिनों में निर्मल वर्मा और कृष्ण बलदेव वैद के बीच। सोबती ने निर्मल वर्मा की मृत्यु के बाद अपना यह अंतिम साक्षात्कार देने का निर्णय लिया। इसे पढ़ते हुए मालूम होता है कि इसका एक मक़सद अपनी स्मृतियों को टटोलना था, तो दूसरा मक़सद अपने लेखन की बारीकियों को उजागर करना। उन्होंने वैद और वर्मा के बीच एक कड़ी का काम किया। इस भाग का अंत उनके ही एक वाक्य से करना उचित होगा, 'लेखन एक बौद्धिक प्रक्रिया है, लेकिन वह रचनात्मक परिश्रम भी है, एक सामाजिक और राजनीतिक बयान भी।' (पृ. 182)।

## डायरी लेखन की विधा

डायरी लेखन आत्मावलोकन की प्रक्रिया में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी होती है। गाँधी ने अपने जीवन और कई साहित्यकारों ने अपने लेखन में ऐसा ज़िक्र किया है। आशुतोष ने अपनी इस कृति में भी बार-बार अपने अंदर झाँकने की कोशिश की है। इस क्रम में वे निर्मल वर्मा और वैद की डायरियों की भी रोचक पड़ताल करते हैं। लेखक का कहना है कि भविष्य में वह एक किताब डायरी पर लिखना चाहेंगे। डायरी के इन अंशों में कभी वे अपने जीवन की झलकियाँ दिखाते हैं तो कभी वैद की डायरियों से मिली मनमाफ़िक चीज़ों का उल्लेख करते हैं।

यहाँ वैद और वर्मा की डायरियों के अलावा काफ़्का, वर्जिनिया वुल्फ़ और अनईस निन जैसे सामाजिक चिंतकों की डायरियों का भी आंशिक विवरण है। जिन पाठकों को डायरी की विधा पसंद है उन्हें यह खण्ड काफ़ी आकर्षक प्रतीत होगा। मसलन, वैद की डायरी में एक जगह नामवर सिंह के शब्दों का ज़िक्र है जिसमें वे सोबती द्वारा वैद और निर्मल वर्मा के आपसी द्वंद्व का फ़ायदा उठाने की बात करते हैं। ऐसे अंशों से गुज़रते हुए यह बात फिर पुष्ट होती है कि सत्य के कई पहलू होते हैं और अंततः हर सत्य आंशिक होता है।

इस भाग को पढ़ते हुए लेखक द्वारा कई किताबों, रचनाकारों, सामाजिक चिंतकों से मिलने (रामचंद्र गुहा, अनुपम मिश्र, आदि) उनके शब्द, विश्व-सिनेमा की झलकियाँ, और उनके द्वारा देश विदेश की यात्राओं के विवरण से एक विशाल संसार में विचरण करने जैसा महसूस होता है। संगम विहार (दिल्ली का एक अनधिकृत कॉलोनी) में रहते हुए वहाँ से चुनाव की रिपोर्टिंग का प्रकरण मीडिया की नाटकीयता और एक रिपोर्टर के रूप में जीवन की जटिलताओं को उजागर करता है। किताब के अंत में वे निर्मल वर्मा से अपनी वैचारिक दूरी बढ़ते जाने का ज़िक्र करते हैं और उनके अपने शब्दों में, 'पिछले वर्षों में निर्मल से शिकायतें बढ़ी हैं। झगड़े भी। पहले सी बातें अब नहीं रही, पर पहले सी बातें कब और कहाँ रह जाती हैं।' (पृ. 250).

## निष्कर्ष

यह किताब धैर्य और मंथर गति से पढ़े जाने की माँग करती है। इसका अंतर-विषयी रुझान युवा पीढ़ी को निस्संदेह आकर्षित करेगा। यह किताब कई तरह के संवाद— प्रथम पुरुष और तृतीय पुरुष के साथ द्विपक्षी संवादों को शामिल करती है। इस दृष्टि से यह लेखन की बारीकियों के प्रदर्शन में भी कारगर है। लेखक ने अपनी यादों, यात्राओं और चुनावी रिपोर्ताज का रचनात्मक उपयोग किया है। लेकिन, इसमें कई जगह आलोचना का स्वर आक्रामक हो जाता है। कई स्थानों पर यह भी लगता है कि कुछ मुद्दों पर थोड़ा और विस्तार से विचार किया जा सकता था। किंतु, कुल मिलाकर, यह एक विचारोत्तेजक और पठनीय किताब है।